(19)

उड़ो तुम गगन में उरगारि

छीन लेना अन्य का धन धाम अर्जन है जिसे ।
अनघ को भी मृत्यु दे देना विसर्जन है इसे ।
क्यों न हो पटुता द्विजिव्हायुक्त ही तो सत्य है।
छिद्र छल छद्मावरण ही सहज जीवन तत्व है।। 1 ।।

विषम दुर्गम शुष्क ही इसको मिला आवास है।
सह्म इस कारण नही उपवन विकीर्ण सुबास है।
सोचता है अन्य का पथ कण्टकित कैसे बनें।
उदय पथगामी चरण दृढ़ रक्त में कैसे सने।। 2 ।।

नय वचन कब बेध पाते प्राप्त सहज अकर्णता ।
अन्य रंग चढ़ता नही है, असित इसकी वर्णता ।
कामना रहती इसे परछिद्र की परधाम की ।
त्यागता निज चर्म को भी जब न रहती काम की ।। 3 ।।

भाग्य में पदहीनता इस हेतु ही तो उरग है।
कुटिल गति के समाश्रय से ही बना यह त्वरग है।
देखता अपलक समुन्नति अन्य की जलता रहा।
निज विवर संकीर्णता आभास नित खलता रहा।। 4।।

अब्धि मंथन में सहायक बने यह वासुकि नही ।
शेषसम हरिशयन सेवा कार्य अभिलाषक नही ।
क्योंकि यह जारज न कश्यप कद्रु की संतान है।
इसे केवल कुटिलता पर गरल पर अभिमान है।। 5 ।।
भूमि पर ही सरकना इस जीव की चिरनियति है।
स्वप्न नभ के देखना लघु बुद्धि की ही विकृति है।
गगनचारी उरग होता मात्र अंतिम काल में।
नही इसको भान उलझा कल्पना के जाल में ।। 6 ।।

राम को भी पाश में बांधा बड़ा यह दर्प है।
आर्य संस्कृति को पुनः ललकारता यह सर्प है।
कृष्णवत आगे बढ़ो मुखत्वरित इसका चीर दो ।
पुनः यमुनावत सुनिर्मल वितस्ता का नीर हो ।। 7 ।।

निज गले से लगाया तुझ तुच्छ को शिव सदय है।
जगत मंगल हेतु हर क्षण द्रवित हर का हृदय है।
तदपि त्यागा नही तूने मूढ़ अहि फुफकारना ।
निज प्रकृति शासित सभी यह सत्य है अवधारणा ।। 8 ।।

यदपि तोड़े विशरदन इस धूर्त को खंडित किया ।
और अपनी जननि का शुभभाल श्री मंडित किया ।
किन्तु फिर वर्धित हुआ यह आज बहुकुलवान है।
बना पीड़ा स्त्रोत फिर से छद्म से बलवान है।। 9 ।।

अब न कालियवत प्रभावी मात्र इसको ताड़ना।
शीर्ष से ले पुच्छ तक इसको पड़ेगा फाड़ना ।
छद्म इसके विनय से यदि कृष्णवत दे दी क्षमा ।
पुनः इसके गरल से अभितप्त होगी यह क्षमा ।। 10 ।।

अतः सब है व्यर्थ उद्यम है अशक्य सुधारना ।
सर्प प्रति व्यवहार्य नर को कुचलना बस मारना ।
अब उठेगा आर्य का गुरू दण्ड वेग प्रचण्ड से।
नही कोई अब बचा सकता तुझे गुरू दण्ड से ।। 11 ।।

अति मनोहर रूप वाणी श्रुति मधुर जिसकी सदा ।
उसे निर्बल समझना केवल बुलाना आपदा ।
मूढ़ पन्नग तू न केकी का सुविक्रम जानता ।
तुच्छ भोगी भोग को यह मात्र लीला मानता ।। 12 ।।

अब न जनमेजय रूकेगें पूर्ण आहुति के बिना ।
अब उड़ेंगे कुद्ध खगपति शेषशायी के बिना ।
लब्धइंगित उड़ानोंत्सुक है मयूर कुमार का ।
लग रहा आसन्न भीषणकाल अहिसंहार का ।। 13 ।।

नकुल भी है व्यग्र रिपु के कण्ठ कर्तन के लिए ।
श्येन व्योमारूढ़ है आखेट नर्तन के लिए ।
विवर होगा वह्नि पूरित कहीं कुछ आश्रय नही ।
धूम युत होंगी दिशाएं प्रकंपित होगी मही।। 14 ।।

फेंक दो शिव दूर अपने कण्ठ से इस जीव को।
दुष्कृतों से जो हिलाता मनुजता की नीव को ।
अब न तुम उरगारि को करना निवारित हे हरे।
अब कलापी भी न शिवसुत का तनिक देरी करे।। 15 ।।

उपेक्षा पाकर सुजन की सर्पदल उन्मत्त है।
अग्निमय निःस्वास से सारी धरा परितप्त है।
करो भीषण अभिस्कन्दन तुम बलान्वित गरूड़ हो ।
शांत लोचन दीप्त हों कोपाग्नि से अति अरूण हो।। 16 ।।

उड़ोविस्तृत व्योम में व्यंजित करो विधिवामता ।
अक्रियता में अब न बदले चिरतरा उपरामता ।
वक्रगति इन जन्तुओं का विजय विभ्रम दूर हो।
समरलीला चिरप्रतीक्षित आपकी भरपूर हो ।। 17 ।।

पुनः हों रवि के तुरंगम मुक्त असितावरण से ।
पुनः हो विनतास्य शोभित हास्य के आभरण से ।
अब न हों विनतास्य सज्जन देख दुर्जन क्रूरता ।
वर्जनाओं की न अब हो वंदिनी शुभशूरता ।। 18 ।।

दिव्य मणि की जिस प्रभा से तू हुआ उन्मत्त है।
वह न अर्जित है, मुषित है नही अन्य प्रदत्त है।
प्राणवत् जिसको समझता नही उसमें त्राण है।
दूर से उसको निरख ले गात्र तव म्रियमाण हैं।। 19 ।।

पुरन्दर पवि का न हमको अभी कोई कार्य है।
हमारे हैं निशित आयुध और वेग अवार्य हैं।
यदि न श्री सुषमा सही जाती हमारे बाग की ।
तो सहे रिपु उष्णता अति प्रबल आयुध आग की ।। 20 ।।

अब न नव जनमेजयों को हे ऋषे! तुम रोकना ।
अब भरत संतति सहेगी नही कुछ भी टोकना ।
महाजलप्लावन करेगा उमड़ता जन सिन्धु है।
शत्रु इसके लिए भूतल पर लगा लघु बिन्दु है।। 21 ।।

शीर्ष से हिमकर हटाकर शिव विषम ताण्डव करें।
दग्धकर अरि के त्रिपुर को क्षेत्र को खाण्डव करें।
बधिर द्वेषण दल करे टंकार घोर पिनाक का ।
खुले रौरव द्वार रिपु हित रूद्ध हो पथ नाक का ।। 22 ।।

मेघ गर्जन में दबेगा तुच्छ स्वर फुफकार का ।
तब तुझे आभास होगा स्वबल का, आकार का ।
स्वयं तेरा गरल ही उस भयावह उत्ताप से ।
दग्ध कर देगा तुझे ही अनिन्दित अभिशाप से ।। 23 ।।

कर दिया है हन्त! विस्मृत नीति पथ चाणक्य का ।
भूलते है ज्ञान नय अध्यात्म के पार्थक्य का ।
शत्रु माया प्रिय बने तो बनो मायावी प्रखर ।
करो दृढ़ आघात सत्वर शत्रुदल जाएं बिखर ।। 24 ।।

कालयवनादिक हराए कृष्ण ने भी युक्ति से।
कौंन तुमको रोकता है, शत्रु प्राण वियुक्ति से ।
शत्रु बल संहार ही जय मार्ग है, रण धर्म है।
विश्व हित जिसमें सुनिश्चित हो वही शुभ कर्म है।। 25 ।।

- शिव कुमार मिश्र –